

हिंदी समानान्तर सिनेमा का सामाजिक परिदृश्य

डॉ. सुरभि विप्लव

सहायक प्राध्यापक

प्रदर्शनकारी कला विभाग

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र), भारत

भारतीय समानान्तर सिनेमा जिसे नया सिनेमा, कला सिनेमा, ऑफबिट सिनेमा, आर्ट हाउस सिनेमा, अल्पसंख्यक सिनेमा, वैकल्पिक सिनेमा, प्रायोगिक सिनेमा alternative cinema आदि कई उप नामों से भी जाना जाता है। यह सत्य है कि अधिकतर दर्शक व्यावसायिक मनोरंजन से भरपूर फॉर्मूला फिल्मों के साथ ज्यादा परिचित है। वही पर समानान्तर सिनेमा समाज के उन दर्शकों तक पहुँच पाया जो सिनेमा की कलात्मक चेतना के प्रति सजग है या समाज के गंभीर मुद्दों के प्रति संवेदनशील है। समानान्तर सिनेमा की धारा गंभीर सिनेमा को दर्शकों तक पहुंचाने और कला की इस विधा के नए स्वरूप की खोज के रूप में शुरू हुआ। अच्छे सिनेमा के प्रति दर्शकों के बीच स्वाद को विकसित करने का काम समानान्तर सिनेमा ने किया। समानान्तर सिनेमा ने स्वस्थ समाज सांस्कृतिक, आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक परिवेश को सिनेमाई चित्रण के माध्यम से आम दर्शकों के बीच लाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। समानान्तर सिनेमा भारतीय सिनेमा में एक फ़िल्म-आन्दोलन था, जो 1950 के दशक में पश्चिम बंगाल राज्य में मुख्यधारा के वाणिज्यिक भारतीय सिनेमा के विकल्प के रूप में उत्पन्न हुआ तथा जिसका प्रतिनिधित्व विशेष रूप से लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा ने किया, जिसे आज बॉलीवुड के रूप में जाना जाता है।

इटैलियन न्यूरेलिज्म से प्रेरित, समानान्तर सिनेमा फ्रांसीसी नयी लहर (फ्रेंच न्यू वेव) और जापानी नयी लहर (जापानी न्यू वेव) से ठीक पहले शुरू हुआ, और 1960 के दशक के भारतीय नयी लहर (भारतीय न्यू वेव) का अग्रदूत बन गया। आन्दोलन शुरू में बांग्ला सिनेमा के नेतृत्व में था और सत्यजीत रे, मृणाल सेन, ऋत्विक् घटक, तपन सिन्हा जैसे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रशंसित फिल्म निर्माताओं ने इसका निर्माण किया। बाद में इसे भारत और बांग्लादेश के अन्य फिल्म उद्योगों में प्रमुखता मिली। 1980 और 1990 के दशक में भारतीय समानान्तर सिनेमा की प्रारंभिक अवधि के दौरान आंदोलन इतालवी सिनेमा और फ्रांसीसी सिनेमा से प्रभावित हुआ, विशेष रूप से इतालवी नवजागरण के साथ-साथ फ्रांसीसी काव्यात्मक यथार्थवाद से। सत्यजीत रे ने विशेष रूप से इतालवी फिल्म निर्माता विटोरियो डी सिका के 'बाइसिकल थीव्स' (1988) और फ्रांसीसी फिल्म निर्माता जीन रेनॉयर की 'रिवर' (1991) का हवाला दिया, जिनसे उन्हें सहायता मिली और उनकी पहली फिल्म पथेर पांचाली (1994) पर प्रभाव पड़ा, साथ ही बंगाली साहित्य और शास्त्रीय भारतीय रंगमंच का प्रभाव भी।

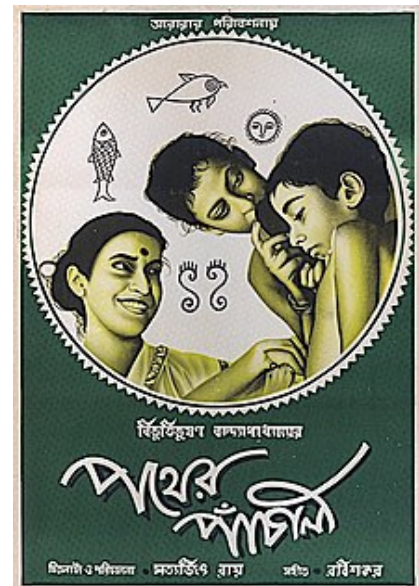


भारतीय सिनेमा में यथार्थवाद का आरम्भ 1920 और 1930 के दशक का है। इसके सबसे पुराने उदाहरणों में से एक बाबूराव पेंटर की 1925 की मूक फिल्म 'सावकारी पाश' एक क्लासिक थी। यह फ़िल्म एक गरीब किसान (वी शांताराम द्वारा अभिनीत) के बारे में थी, जो "एक लालची साहूकार को अपनी जमीन देने को मजबूर हो जाता है और शहर की ओर पलायन कर एक मिल वर्कर बन जाता है।" इस प्रकार भारतीय सिनेमा में तात्कालिक सामाजिक मुद्दों को जगह मिलना शुरू हुआ। यह यथार्थवादी सफलता के रूप में भारतीय सिनेमा के विकास में एक मील का पत्थर बन गया है। 1937 में शांताराम की फिल्म "दुनिया न माने" ने भी भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति की आलोचना की। यह फ़िल्म उस समय बनायी गयी थी जब नारी स्वतंत्रता जैसा कोई शब्द समाज ने नहीं सुना था।

यह काल भारतीय सिनेमा के 'स्वर्ण युग' का हिस्सा माना जाता है। भारतीय सिनेमा के सामाजिक यथार्थवादी आंदोलन के शुरुआती उदाहरणों में ख्वाजा अहमद अब्बास द्वारा निर्देशित और लिखित "धरती के लाल (1946)" 1943 के बंगाल के अकाल के विषय में थी इस फिल्म ने तात्कालिक व्यावसायिक फिल्म के मूल्यों भड़काऊ गीत और संगीत स्टार सिस्टम को दरकिनार कर यथार्थवाद पर आधारित सिनेमाई मूल्यों को प्रदर्शित किया। और नीचा नगर (1946) चेतन आनंद द्वारा निर्देशित और ख्वाजा अहमद अब्बास द्वारा लिखा इस फिल्म के माध्यम से निर्देशक ने समाज में व्याप्त सामाजिक वर्गों के संघर्ष को चित्रित करने कि कोशिश की।

1950 और 1960 के दशक के दौरान, बौद्धिक फिल्म निर्माता और कहानीकार सांगीतिक फिल्मों से निराश हो गये। इसका मुकाबला करने के लिए उन्होंने फिल्मों की एक शैली बनाई, जिसमें वास्तविकता को एक कलात्मक दृष्टिकोण से दर्शाया गया। यह इटालियन नीव रियलिज़्म से प्रभावित था। इन फिल्मों ने समाज की समस्या को अपनी फिल्मों का विषय और मानवीय चेतना को सौंदर्य का आधार बनाया। "रोमन ओपेन सिटी" "बायसिकल थिप" आदि नव यथार्थवाद की फिल्मों ने भारतीय फिल्म निर्देशकों को प्रभावित किया। इन फिल्मों के सौन्दर्य बोध से वे इस प्रकार अभिभूत थे जिसकी ऊर्जा में उन्होंने भारतीय फिल्मों की दशा और दिशा की धारा को नई दिशा में ले जाने का काम किया। इस अवधि के दौरान बनी अधिकांश फिल्मों को राज्य सरकारों द्वारा भारतीय फिल्म बिरादरी से एक प्रामाणिक कला शैली को बढ़ावा देने के लिए वित्त पोषित किया गया था। सबसे प्रसिद्ध भारतीय 'नव-यथार्थवादी' बंगाली फिल्म निर्देशक सत्यजीत रे थे। उनके बाद श्याम बेनेगल, मृणाल सेन, अडूर गोपालकृष्णन, जी. अरविंदन और गिरीश कासारवल्ली थे। सत्यजीत रे की सबसे प्रसिद्ध फिल्में पाथेर पांचाली (1955), अपराजितो (1956) और अपुर संसार (1959) थीं, जिसने 'अपु त्रयी' का गठन किया। तीनों फिल्मों ने कान्स, बर्लिन और वेनिस फिल्म समारोहों में बड़े पुरस्कार जीते और आज भी इन्हें सार्वकालिक महान् फिल्मों में सूचीबद्ध किया जाता है। रचनात्मक सफलता के साथ साथ इन फिल्मों ने व्यावसायिक सफलता भी अर्जित की।

इस यात्रा में बिमल रॉय की "दो बीघा ज़मीन (1953)" में दर्शकों के सामने प्रदर्शित की गई, यह फिल्म शंभू नाम के एक ऐसे चरित्र की है जो अपनी जमीन को जमींदार से मुक्त करने के लिए पैसे कमाने हेतु शहर



कलकत्ता में रिक्शा चलाता है लेकिन गाँव के समान ही शहर में भी अपनी ईमानदारी और मेहनत से जीना उसके लिए संभव नहीं रह पाता। जब वह गाँव आता है तो उसकी जमीन बिक चुकी है और उस पर मिल बन रहा है। जब वह उस जमीन की मिट्टी को छूने की कोशिश करता है तो गार्ड द्वारा उसे वहाँ से मार कर भागा दिया जाता है। इस प्रकार यह फिल्म तात्कालिक समाज में पूंजीवाद के बढ़ते नकारात्मक स्वरूप को चित्रित करने का सफल प्रयत्न किया गया है। यथार्थवाद के धरातल पर कलात्मक जीवन का चित्रण कर मानवीय संवेदना को प्रभावशाली तरीके से दर्शकों तक पहुँचा पाना इस फिल्म की वास्तविक सफलता थी। इस फिल्म ने 1954 के कान फिल्म फेस्टिवल में अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार जीता और भारतीय नयी लहर (इंडियन न्यू वेव) का मार्ग प्रशस्त किया। हिंदी सिनेमा के सबसे सफल फिल्मकारों में से एक ऋषिकेश मुखर्जी को 'मध्य सिनेमा' का अग्रणी नाम दिया गया था और वे ऐसी फिल्में बनाने के लिए प्रसिद्ध थे जो बदलते मध्यवर्ग के लोकाचार को दर्शाते थे। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार, मुखर्जी ने "मुख्यधारा के सिनेमा की असाधारणता और कला सिनेमा के वास्तविक यथार्थ के बीच एक मध्य मार्ग बनाया"। गाँव और शहर के मध्यवर्गीय जीवन के पहलुओं को हास्य से परिपूर्ण गंभीरता के साथ चित्रित करने में ऋषिकेश मुखर्जी को महारत हासिल था। जाने-माने फिल्म निर्माता बासु चर्जी ने भी अपनी फिल्मों को मध्यवर्गीय जीवन पर केन्द्रित किया। 'पिया का घर', 'रजनीगंधा' और 'एक रुका हुआ फैसला' जैसी अनेक फिल्मों का निर्माण किया। इसी प्रकार कला और व्यावसायिक सिनेमा को एकीकृत करनेवाले एक और फिल्म निर्माता गुरु दत्त थे, जिनकी फिल्म प्यासा (१९५७) टाइम पत्रिका की 'सार्वकालिक' (ऑल-टाइम) १०० सर्वश्रेष्ठ फिल्मों की सूची में थी। गुरुदत्त 1950 वे दशक के लोकप्रिय सिनेमा के प्रसंग में, काव्यात्मक और कलात्मक फिल्मों के व्यावसायिक चलन को विकसित करने के लिए जाने जाते हैं। जिनकी फिल्मों में सिनेमाई शिल्प की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्यात्मक प्रस्तुति है। एक त्रुटिहीन कला फिल्म के व्यावसायिक रूप से सफल होने का सबसे ताजा उदाहरण हरप्रीत संधू की कनाडियन-पंजाबी फिल्म "वर्क वेदर वाइफ" है। ऑनर किलिंग पर बनी यह फिल्म बदलते समाज में कामकाजी महिलाओं के बदलते सामाजिक स्थिति को प्रदर्शित करने का सफल प्रयत्न करती है। यह पंजाबी फिल्म उद्योग में गंभीर सिनेमा की शुरुआत का प्रतीक है।

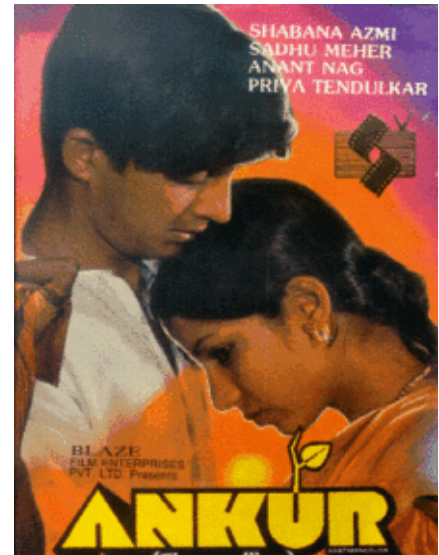
मुख्य धारा का सिनेमा पूरी तरह से मध्यवर्ग का सिनेमा बन चुका था। विद्रोही तेवरों के बावजूद " विशुद्ध मनोरंजक और रोमांचक " सिनेमा अपनी जड़े बनाए हुये था। राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम के जरिए सरकार ने नई प्रतिभाओं को सामने आने का अवसर दिया। और स्वस्थ सिनेमा को प्रोत्साहित करने की कोशिश की थी उसी तरह सिनेमा संबंधी राष्ट्रीय पुरस्कारों ने गंभीर और विश्लेषणपूर्ण सिनेमा को प्रोत्साहित किया। साथ ही कई पत्र पत्रिकाओं में भी इन फिल्मों और निर्देशकों को विशेष जगह मिलने लगी सरकार कि इस पहल का नतीजा समानान्तर सिनेमा आंदोलन के नये रूप में विकसित हुआ। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि इस आंदोलन कि एकमात्र वजह निगम कि आर्थिक सहायत ही थी। फिल्म के प्रति जुनून से उपजा आक्रोश, युवाओं में घिसिपीटी कहानियों और पुराने विषयों के प्रति विरोध करते हुये नई कहानियों को नये दृष्टिकोण से देखने के रूप में सामने आया। समानांतर सिनेमा देश की समकालीन सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं पर केंद्रित था जिसके परिणाम स्वरूप अधिकतर कला फिल्मों में लोकप्रिय पूजनीय व्यक्ति या स्टार्स नहीं होते थे। ज्यादातर इन फिल्मों का बजट कम ही होता था। इन फिल्मों में न महंगे सेट होते थे, न ही भड़काऊ वेषभूषा और न ही तड़क भड़क से भरपूर गीत-नृत्य। ये फिल्में एक प्रयोगात्मक फिल्मों के रूप में दर्शकों के सामने आईं।

1960 के दशक में भारत सरकार ने भारतीय विषयों पर आधारित स्वतंत्र कला फिल्मों का वित्तपोषण शुरू किया। कई निर्देशक पुणे में फिल्म एंड टेलीविजन इंस्टीट्यूट ऑफ इंडिया (FTII) के स्नातक थे। बंगाली फिल्म निर्देशक ऋत्विक् घटक संस्थान में प्रोफेसर और एक प्रसिद्ध निर्देशक थे। हालांकि रे के विपरीत घटक ने अपने जीवनकाल में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त नहीं की। उदाहरण के लिए, घटक की नागरिक (1952) शायद एक बंगाली कला फिल्म का सबसे पहला उदाहरण था, रे की पाथेर पांचाली से तीन साल पहले निर्मित, लेकिन 1977 में उनकी मृत्यु के बाद तक रिलीज नहीं हुई थी। उनकी पहली व्यावसायिक रिलीज 'अजांत्रिक' (1958) भी हर्बी फिल्मों से कई साल पहले की, इस मामले में एक ऑटोमोबाइल, एक निर्जीव वस्तु को चित्रित करने वाली, कहानी में एक चरित्र के रूप में, शुरुआती फिल्मों में से एक थी। अजांत्रिक का नायक 'बिमल' सत्यजीत रे के 'अभिजन' (१९६२) में निर्देशक कैब ड्राइवर नरसिंह (सौमित्र चटर्जी द्वारा अभिनीत) पर एक रचनात्मक सामाजिक प्रभाव के रूप में भी देखा जा सकता है। ऋत्विक् घटक ऐसे फिल्मकार हुए हैं जिनकी कला के हर स्तर पर बेचैनी दिखाई देती है। उनकी फिल्मों की पृष्ठभूमि में परिलक्षित होने वाला विस्थापन दिल के किसी कौने से बार बार आवाज देती हुई प्रतीत होती है। भारतीय सिनेमा के उत्कृष्ट निर्देशकों की धारा में कुछ हट कर सोच रखने वाले ऋत्विक् घटक का काम निर्देशक के रूप में इतना रचनात्मक और प्रभावशाली रहा है कि बाद के कई भारतीय फिल्म प्रेमियों पर इसका प्रभाव साफ-साफ दिखाई देता है। उन्होंने हमेशा नाटकीय और साहित्यिक प्रधानता पर जोर दिया। वे पूरी तरह से भारतीय व्यावसायिक फिल्म की दुनिया के बाहर के व्यक्ति थे। व्यावसायिक सिनेमा की कोई भी विशेषता उनके काम में मुख्यता लिए नजर नहीं आती है।

मनी कौल द्वारा निर्देशित “उसकी रोटी (१९७१),” मोहन राकेश के कहानी पर आधारित थी। मनी कौल ने फिल्म कथात्मक स्वरूप को नया रूप देने के साथ साथ फिल्म फॉर्म को नए रूप से प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया। इस फिल्म को बहुत आलोचकों ने धीमी फिल्म कहा लेकिन यह फिल्मों को नए फॉर्म के रूप में समझने की कोशिश करती है। इसमें स्थापित कलाकार नहीं थे। संवाद बहुत नाटकीय नहीं था। इस प्रकार फिल्म एक नया स्वरूप दर्शकों के सामने आया। ब्रेशा के फिल्म फॉर्म से इनकी फिल्में प्रभावित थीं। इस फिल्म में वाहन चालक की पत्नी के एकांकीपन को समय की गति को नई धारा के रूप में संवेदित करने का प्रयत्न किया गया। पति और पत्नी के सम्बन्धों को पित्रसत्तात्मक समाज के उस स्वरूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया जिसमें सारे अधिकार पुरुष के पास हैं महिला इस समाज में उसका अस्तित्व एकांकीपन और इंतजार को सहन करने के लिए हूँआ है अपने अस्तित्व की पहचान पाने के लिए। संवाद साहित्यिक रूप बड़े ही शाब्दिक है जिसके कारण उनका एक नया स्वरूप दर्शकों के सामने आता है। बाद में मनी कौल ने 1973 में विजयदान देथा की कहानी पर आधारित “दुविधा” फिल्म का निर्देशन किया। इस फिल्म की नायिका अपने पति और भूत के रूप में अपने सच्चे प्रेमी के बीच अपने वास्तविक अस्तित्व को तलासने का प्रयत्न करती है। इसी धारा में फोर्मीलिस्ट फिल्म मेकर कुमार सहानी ने 1972 में “माया दर्पण” और 1989 में “ख्याल गाथा” निर्देशित की। यह फिल्म सिनेमाई फोर्मीलिस्टिक सौंदर्य को अपने मे समेटे हुए दर्शकों के सामने प्रदर्शित होती है।

1970 और 1980 के दशक के दौरान समानांतर सिनेमा ने हिन्दी सिनेमा की मुख्यधारा में काफी हद तक प्रवेश किया। इसका नेतृत्व गुलज़ार, श्याम बेनेगल, मणि कौल, राजिंदर सिंह बेदी, कांतिलाल राठौड़ और सईद अख्तर मिर्ज़ा जैसे निर्देशकों ने किया था और बाद में गोविन्द निहलानी जैसे निर्देशक इस दौर के भारतीय कला सिनेमा के मुख्य निर्देशक बन गये। मणि कौल की आरंभिक कई फिल्मों उसकी रोटी (१९७१), आषाढ़ का एक दिन (१९७२) और दुविधा (१९७४) अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर काफी प्रशंसित हुईं और समीक्षकों ने भी उनकी सराहना की। उन्हें सम्मानित किया गया। बेनेगल के निर्देशन में अंकुर (१९७४) एक बड़ी महत्वपूर्ण सफलता थी और इसके बाद कई काम ऐसे हुए जिन्होंने आंदोलन में एक और आयाम बनाया। इस समय के समानांतर सिनेमा ने युवा अभिनेताओं की एक पूरी नयी पीढ़ी खड़ी की, जिसमें शबाना आज़मी, स्मिता पाटिल, अमोल पालेकर, ओम पुरी, नसीरुद्दीन शाह, कुलभूषण खरबंदा, पंकज कपूर, दीप्ति नवल, फारुख शेख और यहाँ तक कि हेमा मालिनी, राखी, रेखा आदि।

आज 'समानान्तर सिनेमा' शब्द को बॉलीवुड में निर्मित ऑफ-बीट फिल्मों पर लागू किया जाने लगा है, जहाँ कला फिल्मों में पुनरुत्थान का अनुभव होना शुरू हो गया है। इसने 'मुंबई नॉयर' के रूप में जानी जाने वाली एक विशिष्ट शैली का उदय किया। शहरी फिल्में मुंबई शहर में सामाजिक समस्याओं को दर्शाती हैं। 'मुंबई नॉयर' का परिचय राम गोपाल वर्मा की सत्या (१९९८) से हुआ। हालांकि 'मुंबई नॉयर' एक शैली है जिसे महत्वाकांक्षा में कलात्मक नहीं माना जाता है। हालांकि यह मुंबई के अंडरवर्ल्ड के यथार्थवादी चित्रण पर ध्यान केंद्रित करता है। ये आम तौर पर व्यावसायिक फिल्में हैं। भारत में निर्मित कला फिल्मों के अन्य आधुनिक उदाहरणों को समानान्तर सिनेमा शैली के भाग के रूप में वर्गीकृत किया गया है, जिनमें रितुपर्णो घोष का उत्सव (2000) और दहन (1997), मणिरत्नम का 'युवा' (2004), नागेश कुकुनूर का '३ दीवारें' (२००३) और 'डोर' (२००६), मनीष झा की मातृभूमि (२००४), सुधीर मिश्रा की 'हज़ारों ख्वाहिशें ऐसी' (२००५), जाह्नू बरुआ की 'मैंने गाँधी को नहीं मारा' (२००५), पान नलिन की 'घाटी' (२००६), अनुराग कश्यप की ब्लैक फ्राइडे (२००७), विक्रमादित्य मोटवाने की 'उदय' (२००९), किरण राव की 'धोबीघाट' (२०१०), अमित दत्ता की सोनचिड़ी (२०११) और नवीनतम सनसनी है आनन्द गांधी की 'शिप ऑफ़ थिसस' (२०१३)। भारतीय अंग्रेजी में बोली जाने वाली स्वतंत्र फिल्मों भी कभी-कभी निर्मित होती हैं। उदाहरणस्वरूप- रेवती के 'मित्र माइ फ्रेंड' (२००२), अपर्णा सेन के मिस्टर & मिसेज अय्यर (२००२) और 15 पार्क एवेन्यू (२००६), होमी अदजानिया के 'बीइंग साइरस' (२००६), ऋतुपर्णो घोष के 'द लास्ट लियर' (२००७), और सूनी तारापोरवाला की 'लिटिल जिज़ो' (२००९)। आज सक्रिय अन्य भारतीय कला फ़िल्म निर्देशकों में बुद्धदेव दासगुप्ता, अपर्णा सेन, गौतम घोष, संदीप रे (सत्यजीत रे के बेटे), कौशिक गांगुली, सुमन मुखोपाध्याय और कमलेश्वर मुखर्जी बाङ्ला सिनेमा में शामिल हैं। अडूर गोपालकृष्णन, शाज़ी एन. करुण, टीवी चंद्रन, सांसद सुकुमारन नायर, श्यामाप्रसाद, डॉ. बीजू और सनल कुमार ससीधरन मलयालम सिनेमा में; हिन्दी सिनेमा में कुमार शाहनी, केतन मेहता, गोविंद निहलानी, श्याम बेनेगल, अमित दत्ता, मनीष झा, आशिम अहलूवालिया, अनुरागकश्यप, आनंद गांधी और दीपा मेहता; तमिल सिनेमा



में मणिरत्नम और बाला; तेलुगु सिनेमा में रजनीश डोमपल्ली और नरसिम्हा नंदी; जाह्नू बरुआ हिन्दी और असमिया सिनेमा में, तथा मराठी सिनेमा में अमोल पालेकर और उमेश विनायक कुलकर्णी शामिल हैं।

शहरी गरीबी, भारतीय समांतर फिल्मों निर्देशकों के लिए सम्मोहक विषय रहा है। साथ ही पिछले कुछ दशकों में शहरी आबादी में 35 % से भी अधिक जनसंख्या वृद्धि हुई जो बहुत ही चिंता का विषय है। कई निर्देशकों ने इस शहरी बढ़ती आबादी की समस्याओं को अपना विषय बनाया। शहरी झोपड़पट्टी के आर्थिक और सामाजिक मानवीय ताने बाने को अपने फ़िलों में चित्रित करने की सफल कोशिश की जिनमें मीरा नायर द्वारा निर्देशित “सलाम बॉम्बे”, उदारीकरण के शुरुवाती शहरी गरीबी को काफी संवेदात्मक तरीके से प्रस्तुत करती है। मीरा नायर गरीबी शोषण और उसके रूमानी स्वरूप को वैचारिक धरातल पर आलोचना करती हुई अपने फिल्मों में प्रतीत होती है। इन फिल्मों में शहरी गरीबी को यथार्थवादी तरीके से चित्रित किया गया है। इसके अलावा इस प्रकार की समानांतर फिल्मों ने हाशिये पर पड़े लाखों गरीब शहरी मध्यवर्गीय लोगों को आवाज दी। इसी प्रकार किरण राव को धोबी घाट जो 2011 में रिलीज हुई। उसने चार चरित्रों के माध्यम से मुंबई के कई पहलुओं को यथार्थवादी रूप से चित्रित किया है। इस प्रकार “ऑफ बिट” सिनेमा ने समानांतर सिनेमा के नए स्वरूप को दर्शकों के सामने लाया। इस नए स्वरूप को, सामाजिक मुद्दों के प्रति गंभीर दर्शक सराहने का काम कर रहा है और उसके प्रति सजग है। यह दर्शक मनोरंजन के साथ साथ समाज के गंभीर मुद्दों को यथार्थवादी ढंग से देखना चाहता है।

जिस प्रकार भूमंडलीकरण की बाजारोन्मुखी शक्ति ने अपनी विरोधी विचारधाराओं को दबा दिया है। समानांतर सिनेमा कल्पना और सौंदर्यवादी आंदोलन के रूप में अधिकारवादी संस्कृति के मूल्यों का विरोध किया। इसी संघर्ष का परिणाम है कि आज हमें नए निर्देशकों का नाम सुनाई देता है। जो बिना स्टार्स के छोटे बजट की फिल्में बना रहे हैं। आने वाले समय ऑफ बिट फिल्म दिखाने वाले विशेष सिनेमा घर होंगे। भले ही मल्टीप्लेक्स के रूप में वह दर्शकों के सामने आए। सत्यजित रे का कथन है हमें ऐसे सिनेमाई आंदोलन की जरूरत है जो सिनेमा के ऐस्थेटिक्स और कंटेंट को प्रतिबिम्बित और परिशोधित करे।

परिपक्व फिल्म प्रेमियों को न्यू वेव आंदोलन के कमजोर पड़ने का बड़ा दुख रहा। पोपुलर कल्चर के दौर में समानांतर फिल्म आंदोलन किस रूप में दर्शकों के सामने आ रहा है? यह समझने का विषय है। समानांतर सिनेमा आंदोलन के उद्भव के बाद से ही फिल्म निर्देशकों ने अपने विषयों और (ऐस्थेटिक्स) सौंदर्यशास्त्र को वैश्विक संदर्भ में देखना शुरू किया। भले ही फिल्में क्षेत्रीय मुद्दों पर आधारित हो किन्तु उसका संदेश वैश्विक दृष्टिकोण के आधार पर मानवीय और सामाजिक चेतना के रूप में प्रदर्शित हो इस बात का ध्यान रखा गया। सिनेमाई सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में इटली और फ्रांस में क्या हो रहा था उस पर उनकी नजर थी। उन्होंने उस सौंदर्य को भारतीय परिपेक्ष में परिभाषित करने का प्रयत्न किया। सिनेमाई सौंदर्य के सिद्धान्त और तकनीकी के आदान प्रदान पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। ताकि भारतीय कला फिल्मों को एक वैश्विक आयाम प्राप्त हो सके। वैसे तकनीकों का आदान प्रदान दोनों तरफ से हुआ है। कई फिल्म मैकर भारतीय फ़िलों से प्रभावित रहे। कुरुषावा से लेकर टेरेंटिनो तक कई निर्देशक रहे जो भारतीय फिल्मों को सराहा और प्रभावित रहे। वैश्वीकरण, तकनीक और परंपरागत मूल्यों के परिवर्तनशील इस दौर में शायद समानांतर आंदोलन कभी भी मुख्य धारा के इतना लोकप्रिय न हो पाये लेकिन यह सकारात्मक तार्किक चेतना के प्रति संवेदना के रूप में देखा जा सकता है। किसी भी कला का प्रयोगात्मक और स्वतंत्र होना उस कला के विकासशील जीवंत के

लिए आवश्यक है। समांतर आंदोलन कमजोर भले हो लेकिन सिनेमाई सौन्दर्य की चेतना के विकास में यह हमेशा मार्गदर्शक बन कर युवा फिल्म निर्माताओं को आंदोलित करता रहेगा।

संदर्भ

1. प्रहलाद अग्रवाल, हिंदी सिनेमा : आदि से अनंत..., भाग-1, साहित्य भंडार, 50, चाहचंद (जीरो रोड), इलाहाबाद, पेपरबैक संस्करण-2014, पृष्ठ-14,44.
2. "Savkari Pash (The Indian Shylock), 1925, 80 mins". Film Heritage Foundation. मूल से 14 June 2015 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 7 June 2015.
3. Lalit Mohan Joshi (17 July 2007). "India's Art House Cinema". British Film Institute. मूल से 22 November 2009 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 2 June 2009.
4. भृगुनाथ पाण्डेय, हिंदी सिनेमा : आदि से अनंत..., भाग-1, सं. प्रहलाद अग्रवाल, साहित्य भंडार, 50, चाहचंद (जीरो रोड), इलाहाबाद, पेपरबैक संस्करण-2014, पृष्ठ-80.
5. नई दुनिया, 'विश्व सिनेमा' विशेषांक, 1995, संपादक- अभय छजलानी, पृष्ठ-168.
6. नई दुनिया, 'विश्व सिनेमा' विशेषांक, 1995, संपादक- अभय छजलानी, पृष्ठ-167.
7. सिनेमा के चार अध्याय, डॉ. टी. शशिधरन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2018, पृष्ठ-50
8. वसुधा ,हिन्दी सिनेमा बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक ,संस्थापक संपादक हरिशंकर परसाई तथा अतिथि संपादक प्रहलाद अग्रवाल
9. Cinema India: The Visual Culture of Hindi Film (2002), Rachel Dwyer and Divia Patel, Rutgers University, ISBN 978-0-8135-3175-5

